

ककणां आरु भगवत इतुतरु नृहो
आजु की महिला कविता



सातवा राष्ट्रीय महिला अधेशन सम्मेलन, २७ सौ ३० दिसम्बर, १९९६, जयपुर.



प्रकाशक : सम्मेलन आयोजन समिति, जयपुर

संपादक : अञ्जू ढड्डा मिश्र

भूमिका : अजन्ता देव

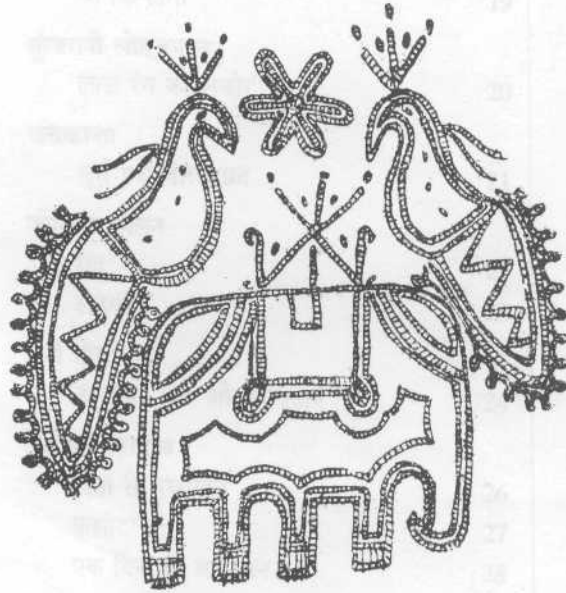
कम्प्यूटर कम्पोजिंग : चारु कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक : कमला आर्ट प्रिंटर्स, जयपुर।

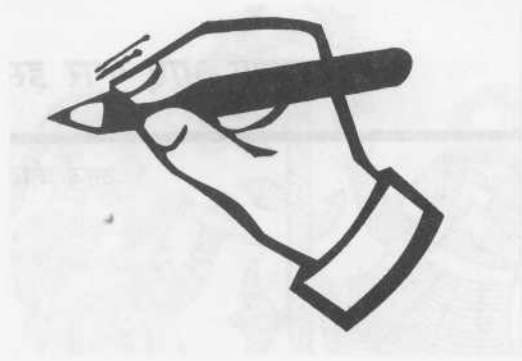
सहयोग राशि : 20/-10/-

करुणा आए मगर इस तरह नहीं

आज की महिला कविता



Handwriting practice



अनुक्रम

प्राक्कथन	5
भूमिका	7
अञ्जु ढट्टा मिश्र	
बीच ही से शुरू	9
खजूरी चोटी	10
अकेली खिड़की के सींखचे	11
अञ्जु दवे	
यह क्या है	12
अजन्ता देव	
विश्व सुन्दरी	13
हुलिया	14
प्रेम के बाद	15
आरती खानचन्दानी	
लिखवा कर आती है औरत	16
कात्यायनी	
शोकगीत	17
या कि होगा	19
कुंजरानी लोड्जम चनु	
लाल रंग की लकीर	20
चन्द्रकान्ता	
भूर्ज पत्रों वाली छत	21
ज्योत्सना मिलन	
रात	22
लड़की	23
तेजी ग्रोवर	
अन्त की कुछ और कविताएं	24
देवयानी भारद्वाज	
पिता से मुखातिब	26
कशीदा	27
एक दिन का आयोजन	28

पद्मा सचदेव	
अक्षर	29
डा. प्रभा सक्सेना	
रोशनी को उलीचें	30
शून्य होकर	31
प्रवासिनी महाकुड़	
खूब सहा है	33
बरकन्या देवी	
चट्टानों में कंकड़	34
मंजुला गुप्ता	
लूँगी जन्म अपने पूरे अस्तित्व के संग	35
मंजु शर्मा	
कैसे लिखूं	37
ममता जैतली	
नामकरण का इतिहास	39
पर्दा	39
रश्मि भार्गव	
मन	41
राजी सेठ	
आत्म कथा	42
रीतु कुमार	
क्या जान सके तुम मुझको	43
रेखा भटनागर	
मेला	45
लवलीन	
कौन चलता है	48
इतिहास	49
चांद	50
विनीता अग्रवाल	
डूबता सूरज	51
विन्ध्या शर्मा	
जन्म लेना ही है साहस	52

शकुन्तला शर्मा		
पीताम्बर गीत		53
शशि शर्मा		
शिनाख्त		54
धूप में बजता सितार		55
श्रीला अग्रवाल		
आशा		56
शैलबाला महापात्र		
अंत से आरंभ		57
सावित्री परमार		
स्वस्ति पल ओढ़ कर स्वागत करें		58
सीमन्तिनी राघव		
कथा - 1		59
कथा - 2		59
सुदेश बत्रा		
शब्द और शब्द		62
आसमान		63
सुनीता जैन		
लड़की		65
चैत		66
आतंकित घड़ी		66
सुनीता शर्मा		
शून्य		67
कहाँ रखे जाते हैं		68
स्नेहमयी चौधरी		
भाषा		69
रूचियों में अन्तर		70
डा. स्वर्णलता		
बिकता है कौड़ियों में इन्सान		71
स्वस्ति श्रीमालि		
झलक		73

प्राक्कथन

महिलाओं द्वारा रचित हिन्दी साहित्य, वह भी कविता, आज हाशिये के भी हाशिये पर है। सामाजिक विभेद के कारण घटती आनुपातिक स्त्री संख्या, विश्वीकरण की आपाधापी में अदृश्य होता हिन्दी साहित्य और मीडियाके बढ़ते भ्रमसपन में गुम होता श्रेष्ठ विनोद-कविता। ज़ाहिर है इन तीनों के साझे पर स्थित हिन्दी की महिला कविता एक लुप्त होती हुई प्रजाति है, और किसी “हिन्दी की महिला कविता बचाओ” आन्दोलन के अभाव में जैसे तैसे जीवित रहने की कोशिश में है।

छपे साहित्य में इसका अनुपात शायद ही कभी पाँच प्रतिशत से अधिक बढ़ पाया है। किसी कवयित्री का कोई संग्रह पिछले कई सालों से चर्चा का केन्द्र नहीं बना चार सप्तकों में एक से अधिक कवयित्री नहीं रही और इण्डिया टुडे की साहित्य वार्षिकी के हर अंक में बीसियों कवियों में से एक या दो से अधिक कवयित्रियाँ कभी नहीं हुईं।

यह सच है कि महिलाएँ कम लिख रहीं हैं- और कविताएं और भी कम-जो लिखना चाह रहीं हैं वो लिख नहीं पा रही हैं जो लिख रही हैं छपवाने की कोशिश नहीं कर रहीं हैं, जो छप रहीं हैं वो चर्चित नहीं हो रहीं हैं-साथ ही यह भी सच है कि महिला लेखन को जिस दृष्टि से देखने का हमारा पाठक वर्ग आदी हो गया है- या बना दिया गया है उसमें अच्छे बुरे का विवेक करने की अपेक्षा नहीं रखी जा रही क्योंकि उसे गम्भीरता से लिया ही नहीं जा रहा। स्वातन्त्र्योत्तर कुछ दशकों में महिला की सामाजिक स्थिति में गिरावट आई है, उसकी गरिमा का ह्रास हुआ है, तब जहाँ वह ‘तोड़ती पत्थर थी’ आज वह “गणतन्त्र की अनाथ गाये,” है किन्तु यह भी उतना ही सच है कि पिछले कुछ दशकों में समता गरिमा और न्याय के लिए उनकी आवाज उठी है और इस इच्छा और आवाज को जिस बारीकी, जिस खूबसूरती और जिस तेजी से महिलाओं ने अपने लेखन में पकड़ा है पुरुष उसमें पिछड़ गये हैं। महिलावादी स्वप्न की एक मुकम्मल विश्व दृष्टि है।

महिलावादी स्वप्न की एक मुकम्मल विश्वदृष्टि है जिसे पाने की इच्छा, उसकी जद्दोज़हद, लड़ाई, थकन, घुटन, हार, छटपटाहट, जीत, खुशी सभी कुछ आज के स्त्री लेखन में मुखरित है। जितनी विविधता और भाव-भूमि का जितना विस्तार आज के नारी अनुभव में है उतना शायद ही पहले कभी रहा हो और यह इस क़दर आकर्षक है कि कई पुरुष लेखक भी नारी स्वर में और नारी अनुभव की कविताएं लिखने पर बाध्य हुए हैं।

रचनानुभव को रूपायित करने के लिये उसे स्त्री स्वर में कहने के लिये बाध्य हुए हैं—

बना कुछ नहीं रही

बनता जो है—यही सही है—

अपने आप बनता है

पर जो कर रही हूँ—

एक भारी पेंदे

मगर छोटे मुँह की

देगची में कुछ झोंक रही हूँ

दबा कर अंटा रही हूँ।

मैं कुछ करती भी नहीं—

मैं काम सलटती हूँ।

मैं जो परोसूँगी

जिनके आगे परोसूँगी

उन्हें क्या पता है

कि मैंने अपने साथ क्या किया है! (अज्ञेय)

वस्तुतः हिन्दी का नारी लेखन सीमित ही सही वयस्क हुआ है और एक अकेली कोकिला के बदले मुख्य धारा का वृन्द बना है। उसके विभिन्न स्वरों को प्रस्तुत करती कुछ कविताएँ यहाँ संकलित हैं।

इस संकलन का मुख्य उद्देश्य केवल महिला लेखन के पूरे परिदृश्य के विभिन्न आयामों को रूपायित करना ही नहीं है, बल्कि काव्यानुभूति और आस्वाद की प्रौढ़ता के भिन्न स्तरों के पाठकों को काव्याभिव्यक्ति के भिन्न स्तरों से परिचित करवाना भी है। इसीलिए इसमें जहाँ एक ओर प्रतिष्ठित कवयित्रियों की रचनाएँ हैं वही दूसरी ओर एकदम नई या अपेक्षाकृत अपरिचित कवयित्रियों की ऐसी रचनाएँ भी सम्मिलित हैं जो रचना कौशल के निकष पर चाहे खुरदुरी या अटपटी हों लेकिन उनमें नारी अनुभव की ईमानदार अभिव्यक्ति मौजूद है।

— अञ्जु ढड्डा मिश्र

भूमिका

करुणा आए मगर इस तरह नहीं, यह एक कविता की पंक्ति है जो मुझे पूरी तरह याद नहीं है। मगर क्या यह सिर्फ कविता है ? मेरे विचार से यह पंक्ति पूरे महिला लेखन को एक नई नजर से देखने और आंकने के लिए जरूरी है।

महिला लेखन इस समय दो धाराओं में बंटा हुआ है— पहली धारा उन महिलाओं की है जो प्रेम प्यार, दुख-विरह और सुन्दर दृश्यों को लिख रही हैं, जबकि दूसरी धारा उन महिलाओं की है जो बड़े सायास ढंग से आक्रामक और खुला लेखन कर रही हैं। मगर अफसोस है कि यह दोनों धाराएं कुल मिलाकर कोई बहुत आशाजनक दृश्य नहीं बना रही।

पिछले सालों में इस दूसरी धारा की कविताओं में धीरे-धीरे लहरे उठ रही हैं लेकिन अब भी गहरी करुणा के अभाव से वह सर्वोत्तम कविता का दर्जा हासिल नहीं कर पा रही हैं। उसने ऊपरी तेजी के लिए मनुष्य के प्रति सहज करुणा को छोड़ दिया है।

उनका लेखन यह नहीं मानना चाहता है कि उसने अपने सामने जो दुश्मन खड़ा कर रखा है वह भी मनुष्य है। अपनी गलतियों और कमजोरियों के बावजूद वह इन्सानी नस्ल का बड़ा जरूरी अंग है। मर्दों की और औरतों की दुनिया में कोई बुनियादी फर्क नहीं है। फिर भी, अगर औरतों की दुनिया में ज्यादा हिंसा, ज्यादा अत्याचार और ज्यादा तकलीफें हैं तो इसकी जड़ें अर्थ और राजनीति में तलाशनी होंगी। यह दो ऐसे तत्व हैं जिनसे पूरी मनुष्यता आक्रान्त हैं। और राजनीति औरतें भी करती हैं। उनका शिकार पुरुष भी होते हैं।

यह लड़ाई अन्याय के ही विरुद्ध है मनुष्य के नहीं - महिला लेखन के लिए इसे समझना जरूरी है। इधर कुछ अरसे से औरतों ने इसे समझना शुरू किया है और उनके लेखन से यह स्पष्ट भी हो रहा है। अंजु ढड्डा मिश्र जब यह कहती हैं कि—

‘बहुत कस कर पकड़ती हैं स्त्रियाँ अपने पतियों को

जैसे काल कोठरी का कैदी

अपनी अकेली खिड़की के सींखचे,

— तो वह दरअसल गहरे जाकर यह ढूँढ रही होती है कि अकेलापन ही औरत को मजबूर करता है ऐसे कस कर पकड़ने के लिए। सीमन्तिनी की कविता में औरत

उदास है, मगर यह उदासी किसी मर्द की बदौलत नहीं है बल्कि ज्ञान का अवश्यभावी परिणाम है—

क्या तुम कुछ समय के लिए

उस समय को नहीं लौटा सकते

जब मैं और

एक और मैं हुआ करते थे।

इतना तय है कि कुछ समय से औरतों ने अपने को और समय के सच को पकड़ने की कोशिश शुरू की है। संकलन की कई कविताएं इस ओर निश्चित इशारा कर रही हैं।

अब इन कविताओं में करुणा आ रही है। इस तरह नहीं कि उसे रोना धोना मान लिया जाए, बल्कि इस तरह कि औरत अब इस पूरी दुनियाँ को अपनी नजर से देखकर एक ईमानदार टिप्पणी कर रही है। हालांकि अब भी बहुत लम्बा रास्ता तय करना है। महिला लेखन को एक चीज याद रखनी होगी कि हम एक पेड़ को कब तक गुस्से से देख सकते हैं, भले ही वह हमारे रास्ते के बीच आ खड़ा है। और जैसा कि एक वरिष्ठ कवि ने कहा था- हम लोहे के जूते ज्यादा देर तक नहीं पहन सकते हैं।

घृणा, क्रोध, अथवा आंसू ये तीनों ही बेहतर दुनिया बनाने के रास्ते में अड़ंगा है ये कविताएं अन्ततः यही कह रही हैं।

— अजन्ता देव

बीच ही से शुरू करंगी बात मैं
नहीं है आधार वाक्य का मेरे, न हो
बात का तो है
और बात का आधार मेरा,
वहीं बीच ही में है
जहाँ आधे रास्ते पर रुक गये हैं, तुम्हारी दी भाषा के संस्कार
और भाषा के बिना, आधे रास्ते पर, खड़े हैं मेरे विचार
यहाँ बीच ही में है
भँवर, जहाँ गुथ्यमगुथ्या हैं विचार और संस्कार
काटते चक्कर, एक दूजे की दुम के पीछे।
तब कहाँ किनारे को खोजूँ मैं
बताने बात सिलसिलेवार
यहीं बस यहीं जहाँ सन्नद्ध खड़े हैं हम तुम
अटल अपने होने पर
यहीं है वह भँवर, वह खाई, वह दीवार दुर्निवार
तब क्यों न करूँ शुरू मैं
बात बीच ही से
जब बीच ही हो
बीज बात का।

— अन्जु ढङ्गा मिश्र

वह जो घना घना सा छाता है
छाता है मन पे, या मन में ?
वह जो घेरता है मन को
वह बाहर है या भीतर ?
बादल धुंओं अंधेरा--
आता है बाहर से
या घिरता है भीतर ?

बचपन की धूप में दादी की कहानियों के साथ
रमे थे जो सपने, वो बालों में थे, या सर में ?
अब फैला है यह जंगल मनो का बोझ लिये
कंधों के ऊपर
जिन्हें सींचा था माँ ने--
चाहते हुए कि वे
बढ़ें गहराएं फैलें
लेकिन जमे बन्धे रहें
एक जगह-तरतीबवार
जिससे सन्तुलित रहे यह दुनियाँ
बंधी हुई, अपने खूँटे से
और जरूरत पड़ने पर समेटे जा सकें
स्मृतियों और स्थितियों के सब तार
समय समुद्र के पार ।
समय समुद्र के पार ही
गूँथी थी चोटियाँ अपनी बेटों की

मिसेज डेलोवे ने नहीं
किसी और ने कहीं
लेकिन उससे क्या फर्क पड़ता है
मिसेज डेलोवे से वैसे भी
आजकल कौन डरता है।
लेकिन क्या बाँध पाई थी वे
उस झरने को
जो उनके सर से (या कि सर में?)
आ गिरता था--
रीजन या थॉट या इमोशन
या कि मन या आत्मा या विचार ?
कहाँ से आये ये गुच्छे बालों में
कि बनती नहीं अब
एक सीधी सी चोटी
और क्या है यह कशिश
कि स्मृति में सुन्दर लगते हैं
चोटियों के दुःस्वप्न भी
बाल कटा लेने के बाद भी।

— अन्जु ढड्डा मिश्र

अकेली खिड़की के सीखचे

बहुत कसके पकड़ती हैं स्त्रियाँ
अपने पतियों को
जैसे
काल कोठरी का कैदी
अपनी अकेली खिड़की के सीखचे।

— अन्जु ढड्डा मिश्र

यह क्या है !

मेरी झोली सिर्फ
दुखों से भरी थी
मैं निराश थी

मेरे इतना करीब !
मेरी बेतहाशा दौड़,
उसे पाने की

मेरी झोली खाली थी
मैं मानो हवा में उड़ी
मैंने सुख को यूँ पकड़ा
कि कभी न छूटे
मैंने सुख को यहाँ
छुपाया, वहाँ छुपाया
किन्तु यह क्या ? !

एक ठोकर

सुख छिटक गया !
जा उलझा एक जाले में
दुख उसके पीछे-पीछे
मैंने अपने खाली हाथ देखे
अपनी खाली झोली देखी

— अंजु दवे

अचानक, एक सुख
मेरे सिरहाने आ बैठा
मुझे आवाज देता उड़ा
वही सुख जिसके लिये
मैं दुखी थी

दौड़ते-दौड़ते एक दुख
यहाँ गिरा, एक दुख
वहाँ गिरा

फिर दुख मण्डरा रहे थे
मेरे सुख को छीनने
मैं फिर दौड़ी
सुख को दोनों हाथों में
कसकर पकड़े
कि वो कभी न छूटे

मेज़ पर रखा है
संसार का सर्वश्रेष्ठ ताज
देख रही है विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी
ताज को
जिसे उतारा गया आज ही
एक और सुन्दरी के सर से

चन्द्र घण्टों पहले
तालियों की गड़गड़ाहट के बीच
वह भूल नहीं पा रही
अपने प्रेमी का सहमा चेहरा
भाई का हैरत से ताकना
माँ की गर्वीली मुस्कान

उसे खटक रहा है
साथ में पिता का न आना
पिता नहीं आये
क्योंकि वे जानते थे
उससे पूछा जायेगा
नारीत्व का सार
और देह देखी जाएगी
पूछी जाएंगी भविष्य की योजनाएं
और करारनामों पर दस्तखत
करवाये जाएंगे
उसे सुविधा देकर
आजादी छीन ली जाएगी

प्राचीन जनपदों की नगर वधुओं की तरह
वह बना दी जाएगी साझा सम्पदा
फिर भी पिता बचा नहीं पाये
ठेल दिया गया अतुल सौन्दर्य मंच पर
नीचे बैठ गये बूढ़े निर्णायक
उन्होंने देखा
फिर देखा
फिर फिर देखा
और इस तरह छत्तीसों बार देखा
सुडौल शरीर
जिसे दुलराया था पिता ने गोद में
जिसे दिन दिन सुन्दर होता देखकर
पिता धीरे से मुस्कराते थे!

— अजन्ता देव

हुलिया

मेरी आँख
नहीं हैं वैसी भूरी
मेरी नाक
नहीं है उतनी गोल
रंग बदलता रहता है
मेरी त्वचा का मौसम के साथ
पिछले साल
कटवा लिये हैं बाल
मैं चित्र नहीं हूँ
कि धूल पोंछते ही
निकल आएगी वही हंसी
हुलिया लिखते वक्त भी
बदलता रहता है, मेरा चेहरा

— अजन्ता देव

लू के थपेड़े
गरम लगते हैं प्रेम के बाद भी

ठण्ड से और भय से
थरथराता है शरीर
थक जाते हैं पाँव चलते-चलते
प्रेम के बाद भी

आसमान और नीला
समन्दर और गहरा
जंगल और भी हरा
नहीं लगता प्रेम के बाद

सब कुछ याद रहता है
खर्चों का हिसाब
और लगातार पिछड़ते जाना

अपने जन्म का साल
और बढ़ते रक्तचाप के आंकड़े
बच्चों की बदतमीजी
बूढ़ों की नुक्ताचीनी
सब कुछ
अपमान, घृणा और क्रोध
याद रहता है प्रेम के बाद भी
प्रेम से पहले का जीवन

सिर्फ यह सब झेलने की ताकत
आ जाती है प्रेम के बाद

— अजन्ता देव —

लिखवा कर आती है औरत ?

प्रत्येक वेदना को सहती है
हर कमी को घुट-घुट कर सहती है
पुरुष की हर जरूरत पूरी करती है
फिर भी बदले में नफरत ही पाती है औरत
अपनों की खुशी के लिए अपने गम पर,
मुस्कराहट का मुखौटा लगाती है
चाहे अन्नपूर्णा ही क्यों ना बन जाये वो सारे परिवार की
फिर भी बदले में जिल्लत ही पाती है औरत
कभी दहेज के लिए, कभी झूठे शक की बिना पर,
और कभी हवस के परिणाम वश मारी और मरवाई जाती है
21 वीं सदी में आधुनिक पुरुषों के आधुनिक विचारों के द्वारा
आज भी पाँव की जूती समझी जाती है औरत
हर खुशी त्याग कर, प्रत्येक दुःख को खुशी से झेलकर
अपने सपनों की खुशी के लिए आँसू मोल लेकर
उन्हीं अपने अपनों के द्वारा दुर्बल हाथों से, काँच
की कीमती प्लेटों को धोते समय टूट जाने पर
पिटवाई व सताई जाती है औरत,
और यूँ ही जिन्दगी को जीने के बजाय काटकर
अपने अपनों के ही द्वारा, उम्र से पहले,
जलाई और दफनाई जाती है औरत
कुछ ऐसी ही जिन्दगी अपने नसीब के कागज पर,
खुदा से फुर्सत में लिखवा कर आती है औरत

— आरती खानचन्दानी (प्रथम वर्ष बी.ए. की छात्रा)

बस यूँ ही गुजार दी जिन्दगी ।
नहीं रच सके कोई 'एपिक' ।
न हो सके विज्ञ जनों की आँख के तारे
न किसी आलोचक श्रेष्ठ के राजदुलारे
अपुन तो बस यूँ ही गुजार दी पूरी
जिन्दगी ।

प्यार किया
एक मामूली आदमी की तरह
राशन-पानी जुटाया
सब्जियों की खरीदारी की
पूरी जिम्मेदारी के साथ ।
भरपूर गुस्से के साथ
जुलूस में शामिल हुए महंगाई के
खिलाफ,
निष्ठापूर्वक गए हड़ता पर ।
नहीं बना सके
एक शान्त-सुरूचिपूर्ण अध्ययन कक्ष ।
जब एक उत्कृष्ट कविता लिखने का समय था
उस हारे हुए समय में भी
लिख रहे थे दीवारों पर नारे
जब लिखनी थी
अपने समय की सर्वाधिक चर्चित

कहानी

लिख रहे थे हड़ताल का पर्चा ।

सामान्य ही रहे अन्त तक ।

यूँ हुए असफल

अपनी सभी विलक्षण कारगुजारियों को

मानवता की सेवा में प्रस्तुत कर

न हो सके महान ।

नहीं लिखेगा कोई गणमान्य कवि

एक शोकगीत

मेरे मरने के बाद

यूँ होगा

एक कठिन

कहानी का

सुखान्त ।

— कात्यायनी (इंडिया टुडे साहित्य वार्षिकी से साभार)

या कि होगा ?

एक दिन

एक दिन पर्यावरण की सुरक्षा पर
कोई कार्यक्रम नहीं हुआ।
जनसंख्या-विस्फोट पर
नहीं प्रकट की गई कोई चिन्ता।
कला की शर्तें
पूरी करने के लिए
नीलामी नहीं बोली गई
सच की, या ईमान की।

एक दिन

मृत्यु नहीं हुई किसी कवि की
या कविता की,
नहीं बैठा कोई विद्वान
किसी पूर्वज की पीठ पर
न ही कोई पुरस्कार बंटता
न तालियाँ बजी

उस दिन

कानून-व्यवस्था को चुस्त-दुरुस्त
करने की
कोई नई कोशिश नहीं हुई,
न कोई हत्या, डकैती, राहजनी हुई
न कोई व्यापार समझौता

उस दिन

नहीं छपे पूरी दुनियाँ में अखबार
अद्भुत था वह एक दिन
जो नहीं था
वास्तव में कभी
पर सोचते हैं सभी
कि था कभी ऐसा एक दिन
जीने के वास्ते।
... या कि होगा ?

— कात्यायनी (इंडिया टुडे साहित्य वार्षिकी से साभार)

लाल रंग की लकीर

शहर के बीचोंबीच
रास्ते पर चमकीले
काँच के टुकड़े
किए जाते हैं इकट्ठे हर रोज़
दिन-ब-दिन
ऊंचे होते जाते हैं।
बंद हो गया है आना-जाना।
लोगों का एक समूह
खड़े हो कर अगल-बगल
देखने लगता है तमाशा।
अचानक कोमल
पैरों का एक जोड़ा
काँच के ढेर के ऊपर
धीरे-धीरे
शुरू करता है चलना
खींच देता है एक लकीर
लाल रंग की।

— कुंजरानी लोड्जम चनु

(भणिपुरी से अनुवाद इबोहल सिंह काड्चम
समकालीन भारतीय साहित्य से साभार)

भूर्ज पत्रों वाली छत

लो झांक आई/यादों की खिड़की से/
भूर्ज पत्रों वाली छत !
जिस पर इतिहास रचे गए/हजारों साल पहले !
नदी किनारे सिर तान खड़े/उस घर की छत/
जो अंकोरती थी बाहें पसार/नीले आकाश का पिघला सोना/
और तित्तरखंभी बदली के/कजलाते रंग !
'उस छत पर/उमगती दूब में/उचक-उचक
सिर उठाते थे/पीले डेजी के फूल !
छुप्पम छुप्पी खेलते थे/आकाश पर बैठे/पोपले मुँह हँसते/
बूढ़े चाँद के साथ !
और हम रोपते थे/नन्हें हाथों/मिट्टी के गर्भ में/
तोरी-कुम्हड़े के बीज !
चाँद पर टेक देने लम्बी सीढ़ी/'जैक एण्ड बीनस्टाक' वाली
बेपरवाह/कि पहुँचेगी नहीं हमारी सीढ़ी/चाँद तक
कि खुरची मिट्टी की राह/पिघलती बर्फ बनाएगी ।
जलाशय कमरों में ! अकल के कच्चे थे !
हम चहक उठते देख/जो मिट्टी की कोख से सिर निकालता
गुलाबी-बदन कुम्हड़ा ! कितना बड़ा आविष्कार थ वह !
टुनटुनाते हैं/घंटियों से कानों में/बुजुगों के स्वर !
डांट/डपट/और 'बच्चे ही तो हैं' संवाद !
आह ! पत्थरों के जंगल में कैसे/महक उठी है केसर ?
हजारों योजन लांघ/छू सकता है आदमी
नरगिस की सफेद गंध ! कैद कर सकता है/महक मिट्टी की/
यादों के कैमरे में/बस ! एक क्लिक
कैसे मान लूँ/कि छिन गई है/मुझसे मेरी मिट्टी ?
अभी-अभी/सांस के साथ/जो महक उठी है/वही भूर्जपत्री गंध/
जिस पर इतिहास रचे गए/जहाँ पीले डेजी के फूल
छुप्पम छुप्पी/खेलते थे/बूढ़े चाँद के साथ/अभी-अभी तो_ !

— चन्द्रकान्ता (इंडिया टुडे, साहित्य वार्षिकी से साभार)

सब से पहले
शुरू होता है माँ का दिन
मुँह अंधेरे
सबके बाद तक चलता है

छोटी होती है
माँ की रातें
नियम से
और दिन
नियम से लम्बे
रात में दूर तक धँसे हुए
इसे कोई भी
दिन की घुसपैठ नहीं मानता
उनकी रात में

पैर सिकोड़कर
बची-खुची रात में
रोज सोती है
गुड़ी मुड़ी माँ
पैर फैलाने लायक
लम्बी भी नहीं होती
माँ की रात।

— ज्योत्सना मिलन (अनसूया से साधार)

धड़धड़ाती हुई
किसी भी चीज में
घुस जाती थी लड़की
जैसे वह
उसका बाहर हो---
या घर
हर बार मगर
भूल जाता था लड़की को
अपना घर
अपनी देह
अपना नाम . . .
चीजों से आती-जाती
बीच-बीच में
होती थी वह लड़की
और उसे याद आता था
अपना कोई घर
अपनी कोई देह
अपना कोई नाम !

— ज्योत्सना मिलन (अनसूया से साधार)

अन्त की कुछ और कविताएं

(एक)

कुछ भी कहने से अब हर कहने में मनुष्य जन्म लेता है और कुछ भी नहीं। इस तरह अब यहाँ बहुत देर तक रुकना सम्भव नहीं है। हर बार तालाब की ओर चलते हुए पत्थर तुमसे टकराकर गिर जाते हैं तुम्हें नहीं मालूम उनकी प्यास को अपने बच्चों के दुख में कैसे पढ़ना है। कुछ आईने तुम्हारे कमरे में शुरू ही से नहीं है। तुम उन चिड़िया को नहीं देख सकते जो तुम्हारी गढ़ी हुई छायाओं के बीचोबीच अपना रास्ता चीरती हुई उड़ने की कोशिश करती है। तुमसे कितनी बार कहा जा चुका है कि हर गीत में एक ही तरह की उदासी भरते चले जाने का अर्थ है कि तुम सुर में नहीं रह पाओगे। तुमसे कितनी बार कहा जा चुका है कि चींटियों की टूटी बांबियों के रुदन में तुम्हारे होने न होने के रुदन से कहीं अधिक ईश्वर बसे हुए हैं।

(दो)

वह तुम्हारी भाषा की परिचारिक नहीं है- सरकण्डों में से उड़कर आती हुई हवा। तुम्हारे किसी वाक्य में कौआ आकर नहीं बैठता। तुम्हारे शब्दों में उसकी पीठ पर रोशनी नहीं गिरती। तुम्हारे वस्त्र का नीला नीला नहीं है। तुम्हारी बाजरे की बालियाँ हवा में बाजरे की तरह नृत्य नहीं करती। तुम्हारे छुए हुए बीज चुप हो रहे हैं। तुम्हारी गढ़ी हुई मूर्तियाँ फिर अनगढ़ पत्थरों में बदलने की कोशिश कर रही है। तुम्हारे चलने से यहाँ की मिट्टी गुस्सैल हो गई है।

(तीन)

काल में मेरे कई ठौर हैं, कई ठिए हैं। पास पहुँचने पर एक भी नहीं। जरूर वह थक गया होगा और फूलों पर भी श्रम करते हुए उसे कोई खुशी नहीं मिलती होगी। थक गई होगी अगर वह मैं हूँ। चिड़ियों में एक अप्रत्याशित पीले को लगाकर भी अब उसका मन नहीं लगता होगा।

वह उस मिट्टी के ढेमे से परे देखती रहती होगी जहाँ से फूल को बन निकालना है।

(चार)

यकायक जो भी सामने है अन्त में बदल जाता है या फिर आरम्भ में। अन्त और आरम्भ में भेद का मिटना ही श्रेष्ठ अन्त माना जाता है।

ये सभी द्वार कांच के हैं। पार देखते-देखते अपना प्रतिबिम्ब भी दिख सकता है जो एक बार फिर आपको पूरी तरह फाँस सकता है। पार देखते-देखते आप किसी भी क्षण बालों को संवारने लग सकते हैं। यही आरम्भ— और प्रतिबिम्ब को गौर से देखने पर पीछे खड़ी एक प्यासी बछिया भी दिखाई देती है।

उस समय आप प्रतिबिम्ब कहकर उसकी प्यास को टाल नहीं सकते जैसे अभी अभी आपने अपने बालों को संवारना टाला नहीं है।

— तेजी ग़ोवर (इंडिया टुडे साहित्य वार्षिकी से साभार)

तुम्हारी हँसी का राज
मैं समझ रही हूँ पिता
तुम्हारी बेटी जो ठहरी
नहीं समझ पाती हूँ
तो अपनी नियति को
जो आज बंधी है तुम्हारे साथ
और कल
बंध जाए शायद
तुम्हें यह मुस्कान देने वालों के साथ
क्या तुम कभी नहीं समझोगे
मेरे चेहरे पर उतराते भावों को

— देवयानी भारद्वाज

बिखरे बालों से बेपरवाह
वह हर सुबह
जाली के कपड़े पर
सपनों की दुनियाँ काढ़ती है
माँ के असमय आए बुढ़ापे की
चिन्ता अपने साथ लिए
कपड़े के पार गुजरती सुई के साथ
सोचती है वह
कल आने वाले मेहमानों के बारे में !
एक दिन
स्वीकृत हो जाती है
अपने बनाए तमाम नमूनों के साथ
कपड़े के पार गुजरती सुई
सीने के पार गुजरने लगती है !
वह अब भी
सपनों की दुनियाँ काढ़ती है !

— देवयानी भारद्वाज

एक दिन का आयोजन

चारों तरफ घंटियों की टनटन
बच्चों की खिलखिलाहट
फिल्मी धुनों पर आधारित भजन
पूजा के एक विशेष दिन
शहर का कोई एक मन्दिर
नत मस्तक वे
माँगती हैं पति की दीर्घायु
बेटे की तरक्की
कुंवारीयाँ मनाती हैं मन्तों
श्रेष्ठ वर के लिए
घंटियों की गूँज के साथ
पकड़े रखती है
मन्त को मस्तिष्क में
सब कुछ यंत्रवत चलता है—
दरवाजे पर माथा टेकने से लेकर
चरणामृत माथे पर लगाने तक
वे किसी भी पल निकल नहीं पाती
परिवेश के साए
और आतंक से बाहर
अपने को भुलाने की कोशिश में
हर शिवरात्रि को मन्दिर आना
उनके लिए एक सुखद आयोजन ठहरता है।

— देवयानी भारद्वाज

शान्ति वाले सफेद कबूतर
 सारे ही बुजुर्ग उड़ा गए हैं
 अब हमारे पास सिर्फ काले कबूतर हैं
 जिनके बच्चे पैदा होते ही बिल्ली खा जाती है
 अपनी नस्ल चुकती देख कर
 कबूतर अब बच्चे पैदा नहीं करते
 बिल्ली के डर से वो धरती को छूते ही नहीं
 आकाश पर उड़ते रहते हैं
 क्योंकि वो नहीं जानते
 आकाश में भी एक सुराख हो गया है
 जो किसी दिन भी बिल्ली बन कर
 धरती को निगल जायेगा

कबूतरों के बचने की कोई आशा नहीं है
 हो सके तो अक्षर बचा कर रखो
 अक्षरों में ही सम्भली रहेगी
 आपकी जीते रहने के लिए की गई कोशिश
 अक्षर ही आपकी संस्कृति सम्भाल कर रखेंगे
 पर ठहरो
 सुनो, कबूतर क्या कह रहे हैं
 क्या आकाश में उड़ते-उड़ते हम बच जाएंगे
 या कि आप अक्षरों को बचा लोगे
 अगर अक्षर बच भी गए
 तो उन्हें बाँचेगा कौन ?

— पद्मा सचदेव (इंडिया टुडे साहित्य से साभार)

रोशनी को उलीचें

बीते बहुत दिन
चलो —
फिर धरा की धड़कन सुनें
स्रोत कोई तो मिलें ऐसा कहीं
पांव से सिर तलक
रोशनी को उलीचें ।

कब तलक बेदखल होते रहेंगे
उस पार से आते
विस्फोटक धुँए से
चलो आज फिर
धरती की धुरी
हाथ में अपनी संभालें
स्रोत कोई तो मिले ऐसा कहीं
पांव से सिर तलक
रोशनी को उलीचें ।

ये लुटेरे स्वप्न के
खूबसूरत दुनियाँ लूटते
आँख प्रहरी आज फिर अपनी बना लें
स्रोत कोई तो मिले ऐसा कहीं
पांव से सिर तलक
रोशनी को उलीचें ।

विष बुझी सी नम हवा
दुर्गन्धवाही स्रोत ये
हथेलियाँ फिर आज अपनी
बसन्त की परिभाषा बना लें
बीते बहुत दिन
चलो सूरजमुखी
रेत में

फिर खिला दें
स्रोत कोई तो मिले ऐसा कहीं
पाँव से सिर तलक
रोशनी को उलीचें ।

— डॉ. प्रभा सक्सेना

शून्य होकर

सपने जब शहर के लिए आते हैं
हर पगडन्डी उजाले की ओर मुड़ती है
और मन धूप में चांदनी सा खिल पड़ता है

सीधे लम्बे पेड़ों की कतारों में
सारे आकाश का खुलापन समेटे हुए
जब सामने वाली लम्बी सीधी सड़क
रात के सन्नाटे में
मुझमें उतरती है
तब पत्थरों में उभरने लगते हैं
गुलाबी शहर के गुलाबी सपने
और जगमगाती रोशनी में

चमचमाते शहर का सौन्दर्य
किसी मधुर आहट की तरह
गूँजने लगता है कानों में ।
तब अचानक
भावना की तरह उदार, लम्बी चौड़ी और शांत
सड़कों का हर खूबसूरत मोड़
मेरा आत्मज बन
मुझे ले जाता है
उस असीम विस्तृति में
जहाँ जीवन न्यूनताओं, कष्टों, अभावों,
रोष, क्षोभ और मलिनताओं के परे
एक उज्ज्वल प्रतीति है
शून्य में संतरण
शून्य होकर

— डॉ. प्रभा सक्सेना

क्या दोगे
माँगूँ भी क्या ?
मैं सुख-विलासी नारी नहीं
कि कहूँ
यह दो
वह दो

साड़ी-गहनों से
मुखे कोई खास लगाव नहीं
स्वप्न-विलासी हूँ शायद कुछ-कुछ
माँग सकती हूँ
सुदूर घने वन में
तुम्हारा सान्निध्य
कह सकती हूँ
सिर्फ मेरे
साथ-साथ रहो

खूब सहा है मैं ने
अपने भीतर का
एककीपन
अकेले रहेने की यंत्रणा
और उसी के भीतर
नीली आग में
जलता
यह मेरा
अधूरा जीवन

— प्रवासिनी महाकुड़

(उड़िया से अनुवाद : राजेन्द्र प्रसाद मिश्र
सामकालीन भारतीय साहित्य से साभार)

कंकड़, तुम कब तक
रहोगे ऐसे ही
दबाए जाने पर बार-बार इस चट्टान के द्वारा ?
चाहो जीना, तो जानना होगा तुम्हें
जगह नहीं है यहाँ तुम्हारी ।
मूल्य है ही नहीं इस जगह आँसू का
दुखी दिल की पुकार
मच्छर-मक्खियों की आवाज़ है उन के कानों में ।
छान लो अपना सीधा-सादा हृदय
छान लो छलनी से ।
बनो तुम नुकीले
होते हुए भी कंकड़ बनो तुम शक्तिशाली
चुभ सकने वाले पैर में किसी भिखारी के ।
इस साहस के अभाव में
हार गए हो तुम आज
सहन कर रहे हो मार हथौड़े की
हो रहे हो ताकतवरों द्वारा पददलित ।

— बरकन्या देवी

(मणिपुरी से अनुवाद इबोहल सिंह काड्चम
समकालीन भारतीय साहित्य से साभार)

माँ मुझे अपनी कोख में मत सुला
मैं आना चाहती हूँ बाहर
देखना चाहती हूँ सूरज की पहली धूप को
चांदनी की किरण और वर्षा की बूंदों को
माँ ! मैं जानती हूँ तू क्यों नहीं चाहती जन्म देना मुझे
तुझे डर है कहीं मुझे
द्रौपदी की तरह कोई दरिन्दा
वस्त्र विहीन न कर दे, जबरन चौराहे पर
या कि छत के नीचे, चार दीवारी के भीतर
कोई झुलसा न दे,
और बयान हो सच्चा, पुलिस के सामने
कोर्ट से फैसला आ जाये
यह खुद ही जल मरी है
लापरवाह, बेढंग बेसलूकी थी
जल के न मरती तो कैसे मरती
सहूर सलीका कुछ सिखाया नहीं
भेज दिया ससुराल बला टाल दी
या कि—
नहीं देख सकती मरते
अपने ही घर में
अपनी ही आँखों के सामने
कुपोषण से बिमारी से, भूख से
पिता, भाई की अनाधिकार कुचेष्टाओं से

माँ मुझे समाप्त करने का हक है तेरा

आधुनिक चिकित्सा का वरदान

भी तो है तुम्हारे संग

परन्तु मैं लूंगी जन्म कहीं न कहीं

अपने पूरे अस्तित्व के संग

घर न सही किसी घूरे में

पलूंगी बढ़ूंगी किन्ही अनिच्छित हाथों में

और तब एक दिन -

बाल खोले, रक्त पिपासु जीभ लिए

मैं पिऊंगी रक्त अपने चीर हारी दुर्योधन का

तब विवाह, वेदी पर खड़ी होऊंगी

माँ ! तुम्हारी आशंकाओं को फिर झुठलाती

मैं लूँगी जन्म

निकट भविष्य में

अपने समूचे अस्तित्व के संग ।

— मंजुला गुप्ता

जब भी लिखनी चाही है
 एक कविता
 श्रेष्ठ और बेहतररीन
 क्यों लिख जाता है
 रोजनामचा
 मेरी तकलीफों का
 पिद्दी पीडाओं का
 क्यों सिमट जाती है
 मेरी संवेदना
 रसोई घर में
 छिन्न-भिन्न होते आत्मविश्वास में
 क्यों झांकने लगती हूँ मैं
 बुद्धियों की जिन्दगी में
 जो ऊब और उक्ताहट
 उतार आती हैं
 कुछ देर कीर्तन में

क्यों पूछना चाहती हूँ
 कुछ सवाल उनसे
 जिनका जवाब उन्होंने
 होम कर दिया
 अपने बुढ़ाते जिस्म में

कोई नहीं पूछता
 वे भी नहीं
 जिन्हें देती रही वे

उम्र भर

अपने जिस्म का
बेहतरीन हिस्सा
अपनी आत्मा की सुंदरता

मैं डरती हूँ
इसीलिये पूछना चाहती हूँ
क्योंकि जिस
साजिश से बेखबर
अब व मांस का
लोथड़ा भर रह गयी है
अपजाने ही सौंप जायेगी
यह विरासत अपनी लड़कियों को
मुझे बताओं
मैं कैसे लिखूँ
एक श्रेष्ठ कविता।

— मंजु शर्मा

नारी
अपनी इस नामकरण का
इतिहास जानती हो ?
तुम, वर्जनाओं में पलीं
जहां जाती
जो भी कहती
या करना चाहती
हमेशा
ना री ना री कही जाती
तभी तो आज
नारी का पर्याय बन
तुम
नारी ही
कहलाने लगी हो

— ममता जैतली

पर्दा

पर्दा जो
मेरे चेहरे पर
डाला गया था
उड़कर, कब
अक्ल पर पड़ गया
जान ही न पाई
पर्दे से ढकी मेरी आँखें
वही देखती, जो तुम दिखाते

कान वही सुनते, जो तुम सुनाते
जुबान वही कहती,
जो तुम सुनना चाहते
पैर उधर ही उठते
जिधर तुम ले जाते
आखिरकार
घर में कैद कर दी गई मैं
फिर भी खुश थी
कम से कम सुरक्षा तो है

भरम टूटा तो समझी
तुम्हारी आंखों ने
बेशर्मी का ठेका लिया हो
तो मेरा यह पर्दा
किस काम का ?

अब सोचती हूँ
इस पर्दे ने मुझे
कायर और बुजदिल ही
बनाया है
रिरिया कर
बलात्कार, सहना सिखाया है
नहीं, यह पर्दा
मेरा रहनुमा नहीं
अपनी अक्ल से उतार
इसे, तुम्हारी आंखों पर
डाल देना चाहती हूँ मैं।

— ममता जैतली

मन कभी
 एक खूबसूरत
 सलोना बच्चा भी हो सकता है।
 मन कभी
 एक खूबसूरत जवान
 लड़की भी हो सकता है—
 मन कभी एक
 मन्दिर की पवित्रता भी
 हो सकता है।
 मन कभी धुँएँ में खोई
 एक भीड़ भी हो सकता है
 मन कभी एक
 रास्ता भी हो सकता है
 मन कभी एक
 कब्रिस्तान या मरघट का
 सन्नाटा भी हो सकता है
 मन यानी एक
 योग साधना
 मन एक
 तपस्या भी है
 जिसे किसी की
 यादें तड़पाती है
 मन यानी
 घोर यातना का
 एकमात्र सबब।

— रश्मि भार्गव (लेखनी से साभार)

आत्मकथा

परिजन नहीं चाहते
खोल दिए जाएं सच हितैषी नहीं चाहते
खुल जाएं आकरण

पुरखे नहीं चाहते
इतिहास की नींवें उछाल दें
उनकी हड्डियों का चूरा बच्चे नहीं चाहते
मुड़कर पीछे देखें

स्त्रियाँ नहीं चाहती
वे अपमानित हों लड़कियाँ नहीं चाहती
खुल जाएं अंधेरे की घात

मित्र नहीं चाहते
खो दें मित्रता अमित्र नहीं चाहते
अतिरिक्त

कला नहीं चाहती
उधड़े भदेसपन सुन्दर नहीं चाहता
यथार्थ

गीत नहीं चाहते
बेसुरापन आकाश नहीं चाहता
व्याप

नदी क्यों चाहेगी
तलछट आज क्यों चाहेगा
बीता कल

— राजी सेठ (इंडिया टुडे साहित्य वार्षिकी से साभार)

मैं हूँ भारत की नारी
क्या जान सके तुम मुझको
पहचान सके तुम मुझको
तुम नहीं जानते खुदको
क्या जानोगे मुझको
तुमने मुझे तब न जाना
जब मैं वैदेही थी
थी उस युग के रावण के
अंत की सूत्रधार मैं
उस अग्नि परीक्षा हेतु
क्या थी नहीं विवश तब भी
सच्चा मान सके तुम मुझको

मैं हूँ भारत की नारी
तुमने मुझे तब भी न जाना
जब झांसी की मनु थी मैं
आज के मुक्त भारत की
नींव बनी थी तब मैं
उस रण की
रज धूल बनी थी मैं
छान सके तुम मुझको
क्या जान सके तुम मुझको
पहनाया नर को वेश मुझे
नारी जान सके तुम मुझको
पहचान सके तुम मुझको

तुमने मुझे तब भी न जाना
जब पद्मा बनी थी मैं
अपनी मान प्रतिष्ठा की
रक्षा का प्रश्न ले
अग्नि वेदी में समाई थी
क्या रोक सके तुम मुझको

और आज और आज
तुम अब भी नहीं पहचान
रहे हो मुझको
जब मैं बनी हूँ भँवरी
अब नहीं चाहती बनना
वैदेही पद्मा और मनु
क्या दोगे मेरा सम्मान मुझे
सच्चा जान सकोगे मुझको
मैं हूँ भारत की नारी ।

— रीतू कुमार (बी. एस. सी. द्वितीय वर्ष की छात्रा)

घर के एकान्त वातावरण से
जिससे मैं इतने वर्ष तक
चिपकी थी,
मुझे उधेड़ कर
ले चले।

सब जगड़ बल ही बल
उसी दशा से
ले गए उस मेले में।

मेला !
हाँ बचपन से ही
कितने विचार,
कितने हवा महल
और
कितनी ही कल्पनाएँ
आँखों में साकार कर ली थीं।
रंग बिरंगी चीजों को
पाने के अरमान,
अपने को उस इन्द्रधनुषी रंगों के
समुद्र में रंग लेने की इच्छा
और
मनपसन्द की छंटी हुई
इच्छाओं की गुंथी माला
कितनी ही बार
बंद पलकों के महलों में
पहनी थी

आज खुली आँखों से
पहनने की कामना फिर जाग उठी।

मेला रंग बिरंगा,
सात रंग भी कम पड़ रहे हैं।
सबकी बाढ़ उल्टी है।
प्रवाल बराल से,
ऊपर से नीचे से,
चारों ओर से
मेले के स्पर्श मात्र से
उत्तेजित कम्पन,
फूटती हुई पुलक
कैसा स्पन्दन !
पैर धरती पर जमते ही नहीं !
बचपन की बलवती इच्छाएं,
उछल कूद मचा रही हैं।
भाग-भाग कर
नजरें भी थका दीं,
किन्तु संतुष्टि नहीं।

किसी में कुछ कम है,
किसी में कुछ !
वो मन की तस्वीर
उसका दर्पण
क्या मिल सकता है ?

मेरी ओर अंगुलियाँ कैसे ?
ये आँखों के लाल डोरे
कितने भयानक !

होंठ खुलते नहीं, न हिलते हैं
कैसा अमावस्या सा भय
कालेपन सा कठोर साया
घर कर गया !
मेले से सतरंगी इन्द्रधनुष
ही ले आती हूँ
परन्तु केवल ठंडा-निर्जीव
श्वेत ही है ।

मेरी मनपसंद की छंटी हुई
इच्छाओं से गुंथी मालाएं
बन्द पलकों के अन्दर का
महल छोड़ कर चली गई ।

— रेखा भटनागर

कौन चलता है ?

ये कौन चलता है ?
साथ-साथ
उठते-बैठते
थमते और पिघलते हुये
डोलता-फिरता है
साथ-साथ !
कभी आगे-आगे दौड़ता
कभी पीछे-पीछे घिसटता
पल्ले के कोर की गाँठ
खोलती हूँ बार-बार
नहीं-कहीं-कोई नहीं
कुछ भी तो नहीं !
दिलासे की किनार
कमर में खोंसे
बुहारती हूँ आंगन
मियानी और चौबारे !
सेंकती हूँ रोटियां
बघारती हूँ दाल !
आँगन में आ ठिठका है- चाँद
फिर खुल गयी - पल्ले की गाँठ
तिरती है छाया - एक
हो लेती है - साथ
थके तन - बुझे मन पर
झर रही है- झिलमिल चाँदनी
ये कौन चलता है ?
मेरे साथ-साथ ।

-- लवलीन

रोती हुई
औरत के आँसू
सूख कर मरते नहीं --
झरते हैं माटी की कोख में
फूटते हैं कल्ले
लहरा रही है
व्यथा - की फसल
सदियों से !
कहाँ है हंसिया
खुरदरा तेज और धारदार
एक ही बार में जो काट दे
यह स्याह पारावार ।

— लवलीन

बच्चा कहता है
ला - दे माँ
थाली - में परोस दे - चाँद

पानी भरी थाली में
थिर-थिर काँपता है-चाँद
हुलसता है बच्चा
मचलते हैं - हाथ
मुट्टी में भींच लूँ-चाँद

पिरोता हैं ऊंगलियाँ - जल में
पानी-तड़क जाता है
सीमित तल में ।

दूर-नभ में गड़ा है-चाँद
देखो उसे - पीलो चाँदनी
थाली में कब
जीया है चाँद !

— लवलीन

मुझे वहाँ डूबता
 सूरज दीखा
 कहा गया, कितनी
 कटीली आँखें हैं।
 एक साथ इतने बदसूरत
 तूँटों को देखकर
 मैं दंग थी,
 कहा गया ये
 कमाकर लाने वाली,
 मेहनती लड़की है।
 मुझे वहाँ दर्द से
 ठितुराई, ठण्डी बेजान
 चिड़िया दीखी थी,
 बताया प्रशंसकों ने
 उसके चुप्प होंठ
 कितने सुन्दर हैं
 मन लगाकर-दिन-रात
 खटती है वह
 कुछ नहीं देखती
 कुतिया, कमीनी, रण्डी
 सुनकर भी चुप रहती है
 कभी-कभी रोती है
 फिर मुँह धोकर
 स्कूल और घर के
 कामकाज में
 जुट जाती है
 सुबह से रात
 रात से सुबह

वे अधिक सही
 साबित हुए हैं
 मैं उदास हूँ
 वे प्रसन्न हैं।

— विनीता अग्रवाल (साहित्य अमृत से साभार)

जन्म लेना ही है साहस

बालिका एक, बैचेनी को मन ही में सहती है,
शहनाइयों के शोर में खुद से ये कहती है।

है मौसम कुछ परेशान सा,
लगे अब जीवन मेहमान सा।
परसों ही दुनियाँ में आए हैं,
कल ही तो थोड़ा मुस्काए हैं
और आज, एक कहानी खतम।
कल दूसरा मेरा जन्म है,
निभानी विवाह की रस्म है।

और दुनियाँ वैसी ही रहती है, पर बालिका वही
शादी बाद, बन औरत ये कहती है--

है आभास मुझे, खुद के बदलने का,
फूलों के महकने का और चिड़ियों के चहकने का।
सच ही किसी का ये कथन है।
खुशी 'औ' डर का ये संगम है।
कल तीसरा मेरा जनम है,
देना किसी को नया जीवन है।

पूछते हमसे जो हैं नारी होने का एहसास,
कहो उन्हें, ये रूप ले जन्म लेना ही है साहस।

कई जन्मों, उपजन्मों का नाम स्त्री है,
दुर्गा तो कभी ये कहाई सती है।
एक जन्म तो माँ से लिया,
जन्म दूजा वो विवाह ने दिया,
बन माँ स्वयं, पाया जन्म तीजा।

एक जीवन में कई जन्मों के लक्षण,
सत्य है, होना स्त्री है विलक्षण।

— विन्ध्या शर्मा (द्वितीय वर्ष बी.ए. की छात्रा)

आरोह-अवरोह के
 रेशमी ताने-बाने से बुने गए
 मेरे पीताम्बर गीत
 तुम्हारी मेखला के नूपुरों में बन्द हैं।

नवनीत-सा कोमल मसृण विश्वास
 बर्फ के ढेलों-सी चोट करने लगा है।
 टुकड़ा-भर धूप, इसे पिघला नहीं सकती-
 विकलांग वाक्यों की बैसाखी इसे चला नहीं सकती
 तीर खाए पक्षी-सा
 पांचजन्य
 भूशायी है
 टूटे पंखों-सा छितराया हुआ वृन्दावन छन्द है।
 आस्था के सर्गों में निबद्ध
 भागवत् काव्य-सा मन
 खण्डित अनुभूतियों की पोर-पोर पर दुखता है।
 निरपेक्षता का शुकदेव,
 तात-शिष्यों से वेणु गीत सुनता तो है
 पर
 गो वत्स-सा भागा-भागा आता नहीं
 क्योंकि
 सूखे कदम्ब के कंटकित रेशों से
 मुँदा हुआ वंशी का हररंध्र है।

— शकुन्तला शर्मा (साहित्य अमृत से साभार)

माँ, तुम तो बहती थीं मेरे रक्त और मज्जा में
तुम्हें क्या ज़रूरत थी मुझे इस यातनाघर में लाने की
और अपना नाम गुदवाने की

पिता, तुम्हारा वास तो मेरे भीतर था ही
भला क्या ज़रूरत थी मुझे इस यातनागृह में लाने की
और अपना नाम दगवाने की

मित्रो, मेरी छाया गंध में प्रतिबिम्बित होती थी
गंध और छाया तुम्हारी
मेरे हृदय में साफ नज़र आता था तुम्हारा हृदय
फिर क्या ज़रूरत थी गरम अंगारों से मुझे दगवाने की

भरोसा नहीं था मुझ पर
या छूटता नहीं किसी से भी नाम का मोह

देखो, यह हूँ मैं और मेरी ज़ख्मी देह
जिस पर ठोक कर शिनाख्त तुम ने छोड़ दिया भटकने के लिए
जबकि मैं दौड़ती हूँ तुम को भीतर रख कर

— शशि शर्मा (समकालीन भारतीय साहित्य से साधार)

जब धूप में सितार बजता है
तो एक सुर पर चलती है हवा
दूसरे पर बहता है झरना
तीसरे पर गीत गाते पक्षी
चौथे पर नाचता आकाश
पाँचवे पर थिरकती पृथ्वी
छठे पर बरसते फूल
सातवें पर नाचता ब्रह्माण्ड
और तब सातों सुरों पर नृत्य करती मैं।

— शशि शर्मा (समकालीन भारतीय साहित्य से साभार)

दूर तक फैले खेत मैदान
बुलाते हैं बार-बार
कहीं सुदूर में
होगा मेरा लक्ष्य
प्रतीक्षारत ।

पर कैसे जाऊँ ?
पैर में बेड़ियाँ पड़ी हैं
रोकनी पीछे खींचती है ।
इसी आशा में जीवित हूँ
कभी तो ताले खुलेंगे
बेड़ियाँ गिरेंगी
पंख उगेंगे
मैं पहुँचूंगी
उड़ कर
अविलम्ब ।

— श्रीला अग्रवाल (अनसूया से साभार)

तुम मेरा सीना फाड़ डालोगे ?
फाड़ डालो ।
पर देखना खून नहीं
अमृत की नदी कोई बह कर
उजाले की शाशवत कविता लिखेगी ।

तुम ईष्याग्नि में मुझे जला दोगे ?
जला दो
पर देखना ईर्ष्या तुम्हारी
अनोखी होमाग्नि बन कर
जीवन को जगमगाएगी !

तुम मेरे ऊपर कब्र बनाओगे ?
बनाओ !
पर देखना कब्र से निकल कर
पंछी मेरा गीत जो गाएगा
खुल जाएगा इंसान के दिल का दरवाज़ा

— शैलबाला महापात्र

(उड़िया से अनुवाद — दीप्ति प्रकाश,
सामकालीन भारतीय साहित्य से साधार)

स्वस्ति पल ओढ़कर स्वागत करे

रोशनी का सिलसिला
मत तोड़ देना
बड़ी मुश्किल से कहीं
एक दीप जलता है।
आज का ही
सुख सहेजें बहुत है
चलो छोड़ो विगत की क्यों गांठ खोलें
चाँदनी जितनी
मिली है बहुत है
व्यर्थ ही अंधियार से क्यों उसे तोलें
रीत जाये नहीं देखो
नयन की सीपी
कहीं मुददत में कोई
मोती जनमता है।
स्वस्ति पल
ओढ़कर स्वागत करो
अधर पर मेहमान बन मुस्कान आई है
रोक लो उल्लास को
दो-एक दिन तो
द्वार घरने कीमती कुछ खुशी पाई है
ध्यान रखना दर्द
बे-पर्दा न हो जाये
गरल पीकर ही कोई
क्षण अमर बनता है।

— सावित्री परमार (लेखनी से साभार)

कथा- 1

दुकडों में लौटते दिनों से पूछा था मैंने,
क्या तुम
कुछ समय के लिए
उस समय को नहीं लौटा सकते
जब
मैं
और एक और मैं हुआ करते थे,
पूछा था उन्होंने,
क्या ठीक होगा
गहरी नींद से जगाना
तुम्हारी तमाम उम्रों को
और ला खड़ा करना
तुम्हें
एक सन्निपात में
तब मैंने कुछ नहीं कहा था,
और शायद तब से अभी तक
मैं चुप और चुप ही हूँ।

कथा- 2

उस समय
खिड़की पर खड़ी तुम
रास्तों की वीरानी देखतीं
अपने निहायत छोटे कमरे में
चिंदियाँ बटोरतीं
सवालियों के जवाब में

चुप रहा करतीं
मेरे आँसू पोंछ पनीली आँखों से
खामोश थपथपातीं
शाम की उदासी में
अंधेरे में
बह जाया करतीं
उस समय
मैं अपनी गुड़िया लिए
उसके
सपने सँवारा करती
तुम्हारे कमरे पर
दस्तक दे
तुम्हें
चिड़िया दिखाया करती
घनी झाड़ियों की छाया में
छाया पकड़ा करती
रात को
कहानी सुन
फिर क्या हुआ
पूछा करती
फिरकनी पकड़
मैं
दूर-दूर
भागा करती
उस समय
तुम्हारे समय को
क्यों नहीं छुआ
मैंने

तुम्हारी आंख का
गीलापन
अभी
तर है
मेरी हथेली पर
पर
तब
आँसू पोंछते
मैंने तुम्हें
सिर्फ
चाँद ही क्यों दिखाया था
चाँद तो पहले भी था
क्यों नहीं
सीने में छुपाया
जैसे तुम किया करतीं
मेरी बचपनिया उदासी
अपना
काट दिया खामोश, क्यों,
एक सिलसिला
उम्र भर,
माँ, मुझे तुम्हारी माँ होना चाहिये था

— सीमन्तिनी रायव

शब्द और शब्द

हमने स्वयं को समेट कर
बन्द कर लिया है केबिनों में
और शब्दों का अपहरण कर
विचारधाराओं पर अपने नाम
चस्पां कर दिये हैं
मकड़ी के जालों से
ताने बाने में कैद
हम संतुष्ट हैं कि
अपनी अस्मिता खोज ली है हमने
मगर थोड़े ही समय में
धुंधला पड़ जाता है दर्पण
और आकार बदलने लगते हैं
अपने ही अक्स
चौंकाती हैं परिणतियाँ
दोराहों पर ठिठक जाते हैं निर्णय
हठ और आक्रोश
बन जाते हैं पर्याय परस्पर
और हवाएं सन्नाटे बुनने लगती हैं
काल चक्र की गति
हवाओं के पंख कुतर देती है
आसमान छूती ऐष्णाएँ
अधर में लटकी रहती हैं
अहं की विष वल्लरी
खींच देती है विभाजन की रेखा
बन्द होने लगते हैं द्वार-झरोखे
इन्सानियत और फर्ज के अहसास
बन जाते हैं शतरंज के मोहरे
तनाव की डोरियों पर
झूलने लगते हैं मान मूल्य
और सौदेबाज हो जाते हैं
सत्ता के गलियारे ।

— सुदेश बत्रा

मैंने अपने सिर पर तने
8 × 10 के चंदोबे को ही
पूरा आसमान समझ कर
पाँव फैला दिये थे बेफिक्री से
किन्तु एक-एक मौसम की
धूप-बारिश में ही
उसका रंग उड़ने लगा था
टांके उधड़ने लगे थे
और कुछ ही दिनों में
मेरा चंदोबा
मटमैली थिंगली बनकर
लटक गया था
कोने झटक गए थे
मुरझाई झंडियों की तरह
आषाढ़ की पहली बौछार
मेरे सिर और चेहरे को
धिगो गई थी
तभी मैंने आने वाले
घनेरे बादलों का जायजा लेने के लिये

ऊपर देखा था
और मैं चौंक गई थी
एक अछोर आकाश
मेरी आँखों की
परिधि से परे
यहाँ से वहाँ तक पसरा पड़ा था
मेरे वजूद को बौना करते हुए
मैंने उसे नापने की
बहुत कोशिश की
किन्तु वह मुझे चिढ़ाता रहा
और फिर
मैंने पूरा दम लगा कर
उसे समेटने के लिये
अपनी बाहें फैला दी थीं,
मेरे फेफड़ों में
ताजी हवा के झोंके
भरने लगे थे धीरे-धीरे।
— सुदेश बत्रा

सरपट भागता
 एक खुला मैदान
 मैदान के सिरे
 छोटी लड़की
 सुबह के सूरज सी
 धीरे-धीरे
 उगती
 उगती

कमर पे बस्ता
 हाथ में तख्ती
 मुँह में अभी अभी खाए
 सिंघाड़े का स्वाद
 दाँतों को बार-बार
 जीफ से साफ करती
 चली आ रही
 धीमी गति से
 मैदान के इस पार
 पहुँचने घर अपने

जब तक लड़की इस सिरे पहुँचेगी
 तब तक दूसरे सिरे पर
 कितनी ही और लड़कियाँ
 उग चुकी होंगी
 उगते हुए सूरज की तरह

पर उनकी कमर पर बस्ता
 हाथ में तख्ती
 मुँह में सिंघाड़ा
 होगा या नहीं
 जिसको यह पता है
 मुझे उसका
 पता नहीं ।

— सुनीता जैन (अनसूया से साभार)

चैत

चैत लगते ही
घर की परिक्रमा
क्रन्दन करता जो

बस पक्षी है,
न चकवा
न पपीहा
न टिटहरी

फूल भी अब फूल
न गुड़हल
न किंशुक
न कनेर, मालती

पेड़ भी बस पेड़
न छतनार
न कदम्ब
न शीशम, शिरीष

सम्बन्ध भी केवल सम्बन्ध
न प्रीत
न अनुराग
न ममत्व, भक्ति । — सुनीता जैन (अनसूया से साभार)

आतंकित घड़ी

सब से टूट
केवल अपने से
जुड़ने की
कितनी छोटी
आतंकित घड़ी !

— सुनीता जैन (अनसूया से साभार)

जिस शून्य में
 रहती हूँ, जीती हूँ,
 वह भरता ही नहीं।
 बार-बार
 पकड़कर लाती हूँ
 कुछ कदम
 कुछ हाथ
 कुछ आवाजें।
 पर सब
 फिसल जाता है
 इस शून्य के
 वक्र से।
 कभी-कभी
 कोई बिन्दु
 ठहरा-सा लगता भी है।
 पर इस ठहराव
 का भ्रम भी खोखला।
 शून्य फिर
 शून्य ही रहता है।
 अपनी शून्यता
 के सत्य के साथ।

— सुनीता शर्मा (साहित्य अमृत से साभार)

कहाँ रखे जाते हैं

कहाँ रखे जाते हैं
घरों में
वे पत्र
माँ के
दिदिया के
भाभी के
जिन पे
तेल की, सेंदूर की
काजल की
इत्तर की
इतनी परत हैं कि
अक्षर पकड़ में नहीं आते,
और खोलने से कागज
ऐसे बिखर जाते हैं कि
कोई भी गोंद
या लेई
उन्हें फिर जोड़ नहीं पाते,

कहाँ रखे जाते हैं ?
घरों में
ये पत्र
रामायण के सुन्दरकाण्ड में
गीता के कुरुक्षेत्र में ?
बच्चों की कापी में ?
धोबी के हिसाब में ?
मन्दिर के आले में ?
या किसी दिन
मन कठोर कर
फेंक दिए जाते हैं
रही के अम्बार में
शायद चूल्हे की
आग में ? — सुनीता शर्मा (अनसूया से साभार)

यह नहीं कि
उसे कोई शिकायत नहीं,
लेकिन अब वह अपने पक्ष में
कोई तर्क न देगी,
न चाहेगी—
लगाये गये आरोपों का
कोई निराकरण।

यह नहीं कि
उसके पास कहने को
कुछ नहीं,
शायद यह कि
बहुत कुछ है।
अब कोई न पूछे
उसका निजी दस्तावेज,
यही तो उसकी सम्पत्ति है।

यद्यपि निष्क्रिय विद्रोह
आज की भाषा नहीं;
यह नहीं कि वह जानती नहीं।

शायद यही उसके लिये
सही भाषा की तलाश का
एक तरीका है।

— स्नेहमयी चौधरी

रुचियों में अन्तर

उनकी और मेरी रुचियों में कितना अन्तर है !

मुझे पसन्द है

गुनगुनी जाड़े की धूप, खुला रेखां और कॉफी ...

उन्हें लोगों से धिरकर बातचीत ।

मुझे पसन्द है

कमरों के रंग, कालीनों की डिज़ाइनें,

बच्चों के स्वेटर की खोज...

उन्हें नॉन इन्टेलेक्चुअल काम निहायत नापसन्द ।

मुझे पसन्द है

आपस में छोटी-छोटी रुचियों की

जानकारी बढ़ाते रहना...

उन्हें ऐसा करना बेमानी लगता है ।

मुझे पसन्द है

अपने को पहचानना...

उन्हें इससे आंख चुराकर दूसरों को पकड़ना ।

मुझे पसन्द है

पहाड़ियों, घास के मैदानों, झरनों के पास

अनकहे शब्द सुनना...

उन्हें एकान्त डल बना देता है ।

फिर भी

हमें एक दूसरे के साथ रहना कितना पसन्द है

— स्नेहमयी चौधरी

अन्धेरे का हाथ थामे
घाटी में चलते
सहते कमी
आषाढ़ी धूप
यायावरी में
कभी बतियाते
राशि-राशि जल से
घबराते झंझा के
दस्तक से
भागते-पकड़ने को
उजास
गाँव-घर का
हास
जो बसा है
धमनियों में
ख्यालों सा
बिखरा है टूटे/प्यालों सा
धारा में/कुछ रुकता नहीं
दर्द है कि
चुकता नहीं

रहे खोजते

समाधान

भीतर

धधकते अंगारे

बाहर अकाट्य

नीरवता

गर्म लू

छीलती छाल

दरख्तों की

दिशा है-न राह

दुरुह मंजिल

दात्री विभ्रत

बजती घंटिया, मंदिर में

बिकता कौड़ियों में इन्सान

— डॉ. स्वर्णलता (लेखनी से साभार)

मैं नायिका हूँ
अभिनय करती हूँ
मैं जो बोलती हूँ
किसी लेखक का लिखा है
मैं जैसे बोलती हूँ
किसी निर्देशक का बताया है
पर,
लेखक की उस कलम में,
निर्देशक के उस निर्देशन में,
'मैं' कहीं छिपी हूँ
और
लोग भी,
तालियाँ इसीलिए बजा रहे हैं
कि उस भूमिका में
अपने किसी जाने पहचाने की
झलक पा रहे हैं।

— स्वस्ति श्रीमालि



महिला अध्ययन का भारतीय संगठन

महासचिव कार्यालय : कार्यालय नं. 4; भगवानदास रोड, नई दिल्ली - 110001

